UNIVERSAL LIBRARY
OU_180913
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6/S61B Accession No. G.H. 2320

Author सिनहा, सुमित्राकुमारी।

Title बोलों के देवता। 1954

This book should be returned on or before the date last marked below.

बोलों के देवता

सुमित्रा कुमारी सिनहा

युग मन्दिर
उन्नाव

प्रकाशक
चौधरी राजेन्द्र शंकर
युग मन्दिर
उन्नाव

प्रथम संस्करण
१९५४
मूल्य २॥)

मुद्रक
भृगुराज भार्गव
नव-ज्योति प्रेस
लखनऊ
(फोन ३६४१)

सूची

१	बोलों के देवता, बोल कुछ ऐसे बोलो	१
२	मैं हर मन्दिर के पट पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ	२
३	अभी तो शेष नहीं यह राह	३।४
४	जी रहे हैं मेरे विश्वास	५।६
५	रात के गहरे अँधेरे में उड़ा जो	७
६	आज नींद की पलकों पर खिल उठा भोर का सपना	८
७	सपना ही था पर सुन्दर था	९
८	मधुर रागिनी बना प्राण की, तुम्हें बीन पर गाया	१०
९	शून्यता तुम्हारी गूँज उठे मैं इसीलिए तो गाती हूँ	११
१०	आज नये बादल फिर उमड़े लगा कि तुमने मुझे पुकारा	१२
११	धरा आकाश मिलते हैं	१३
१२	तुमने ही मुसकाया होगा	१४
१३	तुम दूर गगन से सुन लोगे	१५
१४	तुम्हारा फूलों का उपहार, बन गया गीतों का संसार	१६।१७
१५	प्यार की छिन भर बाँह गहो	१८
१६	तुम्हारे प्यार के दो चार क्षण पा कर	१९
१७	दो पल ऐसे हों जीवन के	२०
१८	तुम दाह घृणा का लेकर मन में बैठे हो	२१
१९	तुमने समझा धूलि जिसे, वह कंचन का संसार बन गया	२२
२०	मैं तुम्हारी मूकता से ही मुखर हूँ	२३
२१	क्या करूँ लेकर तुम्हारी आज कोमल भावनायें	२४
२२	अब तो केवल यही दुःख है तुमने अपनी भूल न मानी	२५।२६
२३	मैं सोच रही हूँ आने वाली बात	२७
२४	मुझे अभी सन्तोष नहीं है	२८

२५ जीवन के प्रति पल मत छीनो २९।३०
२६ क्यों कहते हो सुख क्षण छोटे, दुख की दाहक घड़ियाँ भारी ३१
२७ दीपों की बेला फिर आई ३२
२८ दीपों ! जलो, जलो! ३३
२९ जब तक सपने तब तक यौवन ३४
३० संचित उदारता से अपनी कण भर भी मुझे न देना ३५
३१ तुम न मिले पर मेरी मंजिल मेरे पास स्वयं ही आती ३६
३२ अब न देखूंगी तुम्हारी राह सागर के किनारे ३७
३३ तुम्हें दी विदाई ३८।३९
३४ पथके भटके पन्थी ही तो अपनी मंजिल पास बुलाते ४०
३५ जीवन के पंख थकित हों पर उड़ने की सुधि अवशेष रहे ४१
३६ पंथ बदला है हमारा किन्तु दोनों चल रहे हैं ४२
३७ पंथ चली पहचान पन्थिनी ४३
३८ मै पंथिनि मुझको मत रोको ४४
३९ मुझे नहीं विश्राम आज है मेरी गति अविराम ४५
४० राह न रोको ४६
४१ कभी कभी तुम मिल जाते हो ४७।४८
४२ अपनी जीत न हारो पंथी ४९
४३ न खोजो पथ का अन्त नयन ५०।५१
४४ लहर लहर में नाव तिरा दो ५२
४५ वर्षा बिछुड़ गई पर मन में छोड़ गई अपनी हरियाली ५३
४६ जग में भरा अनुराग हो ५४
४७ आज किसी ने स्नेह उँड़ेला ५५
४८ चूमा जिसको प्रात किरन ने ५६
४९ ओ मानव के अमित प्यार तुम, ५७
५० आज कवि के गान में ५८
५१ देख लो मैं कर रही हूँ ५९

भूमिका

(आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी)

आज की हिन्दी कविता एक विचित्र विघटन की स्थिति पर आ पहुँची है। जिस अदम्य प्रेरणा, आत्म-विश्वास और सौन्दर्य-कल्पना को लेकर पन्त, निराला और प्रसाद ने अपनी स्वच्छन्द रागिनी छेड़ी थी, वह आज विलुप्तप्राय हो गई है। कामायनी काव्य की महती जीवन आस्था आज के काव्य-वातावरण में स्वप्न की सी वस्तु बन गई है। पुराने निष्ठावान कवि भी व्यंग्य और विनोद की हल्की भूमि पर उतर आये हैं। छायावादी काव्य में वेदना और पलायन की वृत्तियाँ भी एक रचनात्मक शक्ति से समन्वित थीं। किन्तु आज की हिन्दी कविता पूर्णतः नकारात्मक और आस्था हीन बनती जा रही है। आए दिन हमारे नये कवि जिन विद्रूप प्रयोगों से हिन्दी कविता को नया परिधान दे रहे हैं उनके मूल में किसी प्रकार की निर्माणात्मक दृष्टि नहीं दिखाई देती। यदि हिन्दी कविता में वह प्रयोगात्मक प्रवृत्ति और गहरी हुई तो आश्चर्य नहीं यदि पश्चिमी अति यथार्थवादी कृतियों की भाँति हमारी कविता भी शीघ्र ही सामाजिक उपयोग-बोध से बिलकुल ही बाहर चली जाय, परन्तु हम हिन्दी कविता के लिये ऐसे दुर्दिन की कल्पना भी नहीं करना चाहते। आज हिन्दी काव्य को अति यथार्थ-वादी दुर्दिन से बचाने वाली जिन शक्तियों पर हम विश्वास रख सकते हैं उनमें प्रसिद्ध कवयित्री सुमित्रा कुमारी सिनहा एक प्रमुख शक्ति हैं।

पिछले कुछ समय से प्रगतिवाद या समाजवाद की भूमिका पर भी हिन्दी कविता का निर्माण होने लगा है, परन्तु इस नई काव्य प्रवृत्ति की प्रेरक शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ अब भी बहुत कुछ अस्पष्ट हैं। नई समाजवादी प्रवृत्तियाँ अब तक इतनी शक्ति संचय नहीं कर पाई हैं कि ये एक स्वतंत्र जीवन शैली की सम्पूर्ण रूपरेखा प्रतिष्ठित कर सकें। इस विचारधारा और जीवन शैली का कोई प्रतिनिधि कवि भी अब तक हमारे बीच नहीं आया। प्रायः शिक्षित वर्ग के कुछ व्यक्ति ही समाजवादी काव्य का सृजन करने में संलग्न हैं, परन्तु केवल इतने आधार पर किसी नवीन काव्य शैली की स्थापना करना कठिन

है। जब तक समाज में सच्चे अर्थों में समाजवादी जीवन-पद्धति नहीं अपनाई जाती और जब तक नई विचारधारा अपनी नवीन संस्कृति का निर्माण करने में समर्थ नहीं होती, तबतक इस प्रगतिवादी काव्यधारा में वास्तविक काव्यरस का संनिवेश न हो सकेगा। कोई भी काव्यशैली समाज के श्रेष्ठतम बुद्धिजीवियों का समर्थन और सहयोग प्राप्त करने पर ही वस्तुत: पल्लवित और पुष्पित हो सकती है। अब तक प्रगतिवादी काव्यशैली इसी कारण हमारे हिन्दी भाषी समाज में बद्धमूल नहीं हो पाई है।

सुमित्राकुमारी सिनहा जी के प्रस्तुत गीत संग्रह "बोलों के देवता" का विषय व्यक्ति की जीवन के प्रति निश्चल आस्था, जीवन-साधना की रचनात्मक भावभूमि और भौतिक क्षेत्र में कर्म की सुनिश्चित प्रेरणा है। जहाँ "तुम न मिले पर मेरी मंजिल मेरे पास स्वयं ही आती", "अब न देखूंगी तुम्हारी राह सागर के किनारे", "तुम दूर गगन से सुन लोगे, मैं गीत धरा पर गाती हूँ।" "तुमको ही मिलन बनाने को मैं रहती आई सदा विलग"

आदि गीतों मे सुमित्रा जी आत्मसम्मान से युक्त अडिग विश्वास को लेकर चलने वाली साधिका है, वहीं भौतिक जीवन के अनुकूल प्रतिकूल वेदनीय तत्वों और भावोंमें सामञ्जस्य लाकर जीवन को सुकर और सफल बनाने की प्रेरणा देने वाली गायिका भी है—"क्यों कहते हो सुख क्षण छोटे, दुख की दाहक घड़ियाँ भारी। "तुमने समझा धूलि जिसे वह कञ्चन का संसार बन गया।" "पार लगता एक तिनका भी अगम मँझधार से", "क्यों पराजय के हृदय में लय विजय है, आज जाना!" "पन्थ बदला है हमारा किन्तु दोनों चल रहे हैं।" आदि गीतों में जीवन-समरसता का ही सन्देश दिया गया है। यही नहीं कवयित्री के विश्वास में प्रतिकूल वेदनीयता भी सिद्धि की ही आधार भूमि है—

भाव उरके मुखर होते एक मौन अभाव में ही,
कल्पना अपनी हुई है सतत सत्य दुराव में ही,
बन्धनों के मोह में ही मुक्ति का सम्यास भी है।
नयन में यदि मेघऋतु तो अधर में मधुमास भी है।

सुमित्रा जी के जीवनादर्श चित्रण की उल्लखनीय विशेषता यह है कि जीवन के प्रति उनकी आस्था विश्वास और प्रेम से पुष्ट और पोषित है—बाधा और उलझन के क्षणों में भी उन्हें अन्तिम मञ्जिल पर सफलता का अडिग विश्वास है।

जी रहे हैं मेरे विश्वास,
प्राण मन को घेरे विश्वास,

[इस गीत में मिट्टी के तन वाली कवयित्री प्रस्तरमूत्ति बन कर अधूरे पूजन की पूर्ति करती हुई इतिहास का निर्माण कर डालने का विश्वास रखती हैं। इस परम सफलता की प्राप्ति के लिए जीवन में अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति का कोई प्रश्न ही नहीं है—

रात के गहरे अँधेरे में उड़ा जो,
उस विहग को मिल गई प्रातः किरण भी।

इसी प्रकार 'बोलों के देवता' काव्य मे मानवीय प्रेम की अभ्यर्थना भी उल्लास के स्वरों में की गई है—तुम दाह घृणा का लेकर मन में बैठे हो, खिल चटक चाँदनी राते बीती जाती है।" गीत मे प्रकृति के प्रसन्नता और प्रेम प्रेरक उपादानों से प्रेरणा लेने की बात कही गई है। प्यार को जीवन का वरदान समझ कर कहा गया है—"प्यार घुलो जीवन के स्वर में।" "जग मे भरा अनुराग हो।" एक का स्नेह कितनों के जीवन में उजेला कर दे सकता है—"आज किसी ने स्नेह उंड़ेला तुम भी दीप जला लो।"

[जीवन के वरदान इस प्रेम-तत्व के महत्व को "बोलों के देवता' की गायिका ने स्वयं अनुभव किया है—

तुम्हारे प्यार के दो चार क्षण पाकर
न जानी राह की दूरी,
थकन दुख दर्द सब भूले,
खिली, ज्यों फूल खिलता है
तुम्हारी चाँदनी में डूब उतरा कर

अमर मैं बन गई क्षण में,
नखत सा बन गया जीवन,
उठी, ज्यों गीत उठता है

तुम्हारी बांसुरी से मुग्ध लहरा कर

हुए सच प्रात के सपने
भरे गति से अचेतन भी
चली, ज्यों वायु चलती है

तुम्हारी साँस से लय तान गति पाकर

प्यार से अनुप्राणित होकर फूल के समान खिलकर और गीत के समान उठकर वायु के समान चलने में कितना जीवन-सौंदर्य है। जीवन की यह गायिका चाहती है प्राणी मात्र को अपने जीवन साफल्य के लिए प्रेम का सहारा दे -

प्यार की छिन भर छाँह गहो!
स्वयं गति हो जाये गतिमान,
बसेगा प्राणों में आ प्राण
युगों तक अलि सकोगे ताप
प्यार की छिन भर छाँह गहो!

इस प्रकार विश्वास और प्रेम से पूर्ण जीवन के प्रति कवयित्री की जो उल्लासपूर्ण ललक है उसने उसे स्वभावतः युग-जीवन की गायिका बना दिया है। युग की ओर देखने के लिए कवयित्री अपना सम्पूर्ण स्नेह उड़ेल कर मानवता का दीपक आलोकित करना चाहती है तथा व्यक्ति को 'इन जीवन-फूलों को मानवता के चरणों पर चढ़ने दो', की प्रेरणा देती है। युग-जीवन के गायक कवि के उत्तर दायित्व को उसने खूब समझा बूझा है। उसे ज्ञात है कि "आज कवि के गान में जग की व्यथायें बोलती हैं।' फिर तो उसने "बोलों के देवता (कवि) से युग के लिये अपेक्षित कुछ ऐसे ही जीवन प्रेरक बोल बोलने की माँग की है, जहाँ साधना व्यक्ति के जीवन का पुरुषार्थ बन सके और जीवन-साधक व्यक्ति साधना की राह की समाप्ति थकान, ऊब अथवा निराशा के कारण न देखना चाहे। "अभी मत बन्द करो यह बीन, मिटी है नहीं राह की चाह।" और इस साधिका की धारणा में सचमुच "नहीं राह की इति होती है।"

भौतिक जीवन की साधना का जब आध्यात्मिक अध्याय खुलता है तो साधना अपेक्षाकृत अधिक भास्वर रूप में उद्घाटित होती है। "मैंने तुम्हें बीन पर गाया", में साध्य के लिए अपने को मिटा देने वाली साधक की साधना का मार्मिक चित्रण हुआ है। 'तुमको ही मिलन बनाने को मैं रहती आई सदा विलग'—में साधक ने साध्य को अपनी साधना और त्याग द्वारा महत्ता प्रदान की है। साध्य को विजयी बनाकर साधक यदि उसे अपनी जीत बनाये रखने की प्रोत्साहनपूर्ण ललकार देता रहे तो साधक की यह कितनी बड़ी महानता है।—

'अपनी जीत न हारो पंथी'

देकर विजय अकिंचनता में मैंने पूर्ण सफलता पाई,
दानों का प्रतिदान माँगने कभी तुम्हारे द्वार न आई,
मुक्ति लुटा, बन्धन की स्वामिनि को अब तुम न पुकारो पंथी'।

सुमित्रा जी हिन्दी पाठकों के लिये अपरिचित कवयित्री नहीं हैं। मुक्तक गीत के क्षेत्र में उनका अपना विशिष्ट स्थान है, जिसकी समुचित रक्षा प्रस्तुत गीत संग्रह में उन्होंने की है। सामूहिक विश्वास और प्यार के ताने-बाने से बुने गए स्वप्नसम सुखद समाज जीवन का कितना सुन्दर शब्द-चित्र लेखिका ने उतारा है—

जीन लय हो संधानों में अवरोध अकिंचन बन जाएँ
विश्वास प्यार का बन्धन हो तो युग युग क्षण बन रह जाएँ,
उड़ते निमिषों के पंखों पर सपनों की छवि का हो अंकन,

मन पंछी हो तो मुक्त गगन !
जब तक सपने, तब तक यौवन।

जीवन-साधक यदि साधना के पथ पर मन का उल्लास न धूमिल पड़ने दे, तो उसको प्राप्त होने वाली सुखद अनुकूलता का मनोरम शब्द चित्र देखिये—

"खड़ी है उत्सुक दिशाएँ फूल राहों मे खिलाने,
शूल भी पथ में निरख गति को लगेंगे मुस्कराने।

और साधना स्वयं अपने में इतनी बड़ी साध्य है कि उसमें अंश मात्र के कृतित्व की भी परम महत्ता है—इसकी कितनी सहज सुन्दर अभिव्यक्ति नीचे की पंक्तियों में हो पाई है—

धूलि बन कर पंथ में जो बिछ गई हो।
उस अगति पर उभर आते गति-चरण भी।

साध्य के लिये साधक की रुदन-गान-मय साधना की कितनी अपेक्षा है इसका मार्मिक रूप सुमित्रा जी ने इस प्रकार शब्दों मे बांधा है—

ले मिलन-हास के फूलों का औ' विरह-आँसुओं के मोती,
अपने गीतों में गूँथ गूँथ जय माल तुम्हें पहिनाती हूँ।

मैं इसी लिये तो गाती हूँ।

जब जग के दाहों से आकुल तुम तप्त उसाँसें भरते हो,
गीतों की श्यामघटा बन कर मैं रिमझिम तब उतराती हूँ।

मैं इसी लिये तो गाती हूँ।

इसी प्रकार सुख-दुख के समन्वय की यह अभिव्यक्ति कितनी मार्मिक है—

जीवन की विराट गोदी में
कितनी व्यापक होती छाया,
जिसमें शिर रख नयन मूँद कर
हँसती रोती सुख-दुख-काया,

हर पीड़ा की गाँठ खोल दो होगी कोई पीर सहारा!"

प्रकृति के उपादानों की पृष्ठ भूमि पर भोर का प्रसाद गुण, सम्पन्न, मानवीकरण का कितना सुन्दर शब्दचित्र नीचे की पंक्तियों में उतारा गया है।

आँसू-भरी विदाई दे कर रात चली थी
चंदा के मन की मुरझाई हास-कली थी
याद बावली उसको ले कर तब मचली थी,
मूँदे पट को खोल समाया युग युग का वह अपना !
आज नींद की पलकों पर खिल उठा भोर का सपना ।,

भाव-व्यंजना के साथ ही कल्पना की सृजन शीलता से भी सुमित्रा जी का काव्य सम्पन्न है। 'दीपों की बेला फिर आई।' गीत में आराध्य आराधिका की कल्पना में दूर कहीं गंगा के उस पार के गाँव का रहने वाला है। दीपों की बेला पर वह कल्पना करती है कि—

"और तभी तुम रजनी गन्धा के झुरमुट से
एक स्निग्ध दीपक ले किरणों के सम्पुट से
अर्पित कर दोगे जब गंगा की धारा को
वह आयेगा मुझ तक वह सब अंधियारा धो,
मधुर समर्पण के क्षण पुलक प्रपात बनेंगे,
कृष्ण अमा के आँसू स्वर्ण - प्रभात बनेंगे,

चंचल स्नेह उँडेलो छल-छल दीपों की बेला फिर आई !'

सुमित्रा जी के इन गीतों में भाषा का सरल परिधान है, परन्तु साथ ही छायावादी रचना शैली की अलंकारिता भी उपयोग में लाई गई है। 'पगों में पीर की जंजीर बाँधी', 'सत्य के अभिशप्त पथ से स्वप्न का वरदान आया,' जैसे लाक्षणिक प्रयोगों की योजना गीतों में बराबर मिलती है। प्रतीकात्मक पद-योजना आवश्यक स्थलों पर व्यवहृत हुई है। 'बुझ जावे अभिलाषा-दीपक घिर आवे मन में सघन गगन' में दीपक और गगनी प्रतीकात्मक प्रयोग है जिससे काव्य को सुन्दर रूपमत्ता मिली है। सुमित्रा जी की भाषा में प्रसाद गुण प्रमुख है किन्तु माधुर्य का प्रचुर पुट भी पड़ा हुआ है।

बोलों के देवता, बोल कुछ ऐसे बोलो !

ऐसे बोल कि जिनके शब्दों में अमरत्व - सिन्धु लहराए,
ऐसे बोल कि जिनको सुनने उच्च हिमालय शीश उठाए,
ऐसे बोलो, युग की साँसों में लय की मधुता तुम घोलो !

बोलों के देवता, बोल कुछ ऐसे बोलो !

सूझों के अंकुर उन्मादों की उर्वर धरती पर फूटें,
कहीं न कोमल कला-कुसुम नव कठिन ज्ञान के हाथों टूटें,
अन्तरात्मा - कलाकार ! मत, निज को बुद्धि-तुला पर तोलो !

बोलों के देवता, बोल कुछ ऐसे बोलो !

करो मूकता की अर्चा तुम, व्यथा - अश्रुओं को न गिराओ,
उन्मादी बलिदान - पन्थ पर, फूलों जैसे शीश चढ़ाओ,
वाणी - घट में भरे वेदना - रस, जीवन सिंचित कर डोलो !

बोलों के देवता, बोल कुछ ऐसे बोलो !

o

मैं हर मन्दिर के पट पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ,
भगवान एक पर मेरा है !

मन्दिर मन्दिर में भेद न कुछ मैं पाती,
है सिद्धि जहाँ साधना वहीं पर आती,
मन की महिमा जिसके आगे झुक जाती,
वाणी वर का अभिषेक वहीं पर पाती,

मैं हर पूजन अर्चन पर शीश झुकाती हूँ,
अभिमान एक पर मेरा है !

कलियों फूलों पर किरनें प्यार लुटातीं,
नभ से आतीं, माटी-कन में छा जातीं,
पर क्या कलियों-फूलों में ही बस जातीं !
सूरज की किरनें सूरज के सँग जातीं,

मैं किरन-किरन की श्री पर प्यार लुटाती हूँ,
दिनमान एक पर मेरा है !

मन ही तो शाश्वत स्नेह, प्रेम का बन्धन,
आगे तन की गति क्रिया व्यर्थ का क्रन्दन,
यह पूजा-भक्ति-प्रार्थना-नत अभिनन्दन,
मन की महिमा गरिमा का करते वन्दन,

मैं हर अशीष मन को स्वीकार कराती हूँ,
वरदान एक पर मेरा है !

अभी तो शेष नहीं यह राह !

अभी तो दिन की तीखी दृष्टि,
न फूलों सी मुस्काई छाँह !

नहीं गीतों को मिला विराम,
नहीं पाँवों को अपना धाम,
तृप्ति-अलका में हुआ न वास,
न उमड़ा आशाओं में हास,

अभी मत बन्द करो यह बीन
मिटी है नहीं राह की चाह !

दूर है अपनी मंज़िल एक,
जहाँ होने वाला अभिषेक,
जहाँ जागेगा नया प्रभात,
जहाँ की होगी अपनी बात,

उसी की लिए प्रतीक्षा-डोर
चले जाते हम अपनी राह !

अभी तो हाथों में पतवार,
नाव भी नहीं पड़ी मँझधार,
बचीं कुछ स्मृतियाँ हैं पाथेय,
अभी तो प्यार तुम्हारा गेय,

अभी तो हृदय-सिन्धु के बीच
उमंगों की मिलती है थाह !

चाँदनी में है रस - आवेश,
दिवस का है स्वर्णोज्वल वेश,
दीप में अब भी स्नेह अशेष,
बुलाता है फूलों का देश,

अभी वरदानों का संकेत
मिटाता अभिशापों का दाह !

देख लें नई दिशायें आज,
सीख लें नई कलायें आज,
चलो लिख दें नूतन इतिहास,
रचा लें नव जीवन का रास,

उछाहों के प्रवाह में लीन
आज हो जावे ठंडी आह !

अभी तो शेष नहीं यह राह !

जी रहे हैं मेरे विश्वास !
प्राण मन को घेरे विश्वास !

दिनों का रातों में अवसान,
रात का प्रातः अनुसन्धान,
बदलता रंगों को आकाश,
भिन्न ऋतु- परियाँ करतीं हास,
कभी ले आँसू कभी सुहास,
जी रहे हैं मेरे विश्वास !

मृत्तिका-सी थी मेरी साध,
तरल कोमलता पूर्ण अगाध,
बनी थी मैं ही स्वयं कुम्हार,
गढ़ा था सुन्दर घट सुकुमार,
भले ही हो वह विफल प्रयास,
किंतु जीते मेरे विश्वास !

बना रजकण रीता घट फूट,
जोड़ भू से सम्बन्ध अटूट,
बुलाने लगीं तप्त चट्टान,
हुईं तब वे साधें पाषाण,
किंतु मत करना अब उपहास,
जी रहे हैं मेरे विश्वास !

मृत्तिका घट होते सुकुमार,
शिलाओं का है दृढ़ आधार,
करूँगी बन कर प्रस्तर-मूर्ति,
अधूरे पूजन की मैं पूर्त्ति,
मुझे लिख देना है इतिहास,
जो रहे हैं मेरे विश्वास।
प्राण मन को घेरे विश्वास !

०
००

रात के गहरे अँधेरे में उड़ा जो
उस विहग को मिल गई प्रातः किरण भी !

ताप से मिल तरलता बन मेघ जाती
पैठता जो सिन्धु, पाता रत्न-थाती
भावना ऊँची लिये सागर-लहर भी
उछल कर है क्षितिज की सीमा डुबाती

वरण जिसने कर लिया जीवन चिरन्तन
हो गया अनुगत सदा उसका मरण भी !

स्वप्न आते नींद के, दृग मींचने पर
लक्ष्य बेधे शर, धनुष को खींचने पर
शुष्क धरती के हृदय में बीज बो कर
लहलहा अंकुर निकलते सींचने पर

जो पथी चलता रहा विश्राम खोकर
स्नेह ने उठ कर उसे दी मधु-शरण भी !

बन्धनों की भीख पाती मुक्ति का धन
प्रलय से ही झाँकता है सृष्टि का तन
गूँज उठते हैं भविष्यत्-प्राण उसके
भर चुका है विगत में जो गान निस्वन

धूलि बनकर पंथ में जो बिछ गई हो
उस अगति पर उभर आते 'गति-चरण' भी !

आज नींद की पलकों पर खिल उठा भोर का सपना !

आँसू-भरी विदाई लेकर रात चली थी,
चंदा के मन की मुरझाई हास-कली थी,
याद बावली उसको लेकर तब मचली थी,

मूँदे पट को खोल समाया युग-युग का वह अपना !
आज नींद की पलकों पर खिल उठा भोर का सपना !

तारों के दीपों का उज्ज्वल स्नेह चुका था,
दूर कहीं पर चातक का स्वर काँप रुका था,
कलियों के सम्मुख समीर का शीश झुका था,

एक मिलन क्षण के सागर में डूबा बिछुड़न-तपना !
आज नींद की पलकों पर खिल उठा भोर का सपना !

कुमुदों ने दृग मूँद झुकाया खीझ भरा मन,
पिघल उठा सुकुमार भावना सा तुषार-तन,
हँसा स्वप्न को सत्य बनाता ऊषा-आनन,

अलि, पंकज के मन-मन्दिर में भूला प्रिय को जपना !
आज नींद की पलकों पर खिल उठा भोर का सपना !

सपना ही था पर सुन्दर था !

पाहन के पूजन के छल का आकार नहीं था, अन्तर था !

शूलों बिंधकर गूँथी माला,
मधु स्नेह पिला दीपक बाला,

जलने में भी शीतल आहों का बिखरा मीठा-सा स्वर था !

थी एक लगन निर्माणों में,
था आत्म-समर्पण गानों में,

मिट जाने में भी तो जीवन के शुभ चिन्हों का ही वर था !

दिन फूलों से भी थे हलके,
निशि में अमृत के घट छलके,

इस मृग-तृष्णा में भी तो नव चेतनता का ही सागर था !

मूकता मुखर हो जाती थी,
विस्मृति में भी सुधि आती थी,

विश्वास-विहग के लघु पंखों के सम्मुख सारा अम्बर था !
सपना ही था पर सुन्दर था !

मधुर रागिनी बना प्राण की, तुम्हें बीन पर गाया !

मैंने तुम्हें बीन पर गाया !

उर-कांक्षा को रूप-भाव दे तुमको महिमा दे दी,
मैंने ही अपनी लघुता की तुमको गरिमा दे दी,
दुर्गम राह स्वयं बन अपना तुमको लक्ष्य बनाया !

मैंने तुमको लक्ष्य बनाया !

दर्पण तुम्हें बना चित्रांकन अपना ही कर डाला,
सूना कंठ रखा अपना तब, तुम्हें कहा जय-माला,
जीवन स्वयं विराग बनाकर तुमको प्यार बताया !

मैंने तुमको प्यार बताया !

कटुता मूर्त्त बनी मैं, मधु का स्रोत तुम्हें तब माना,
निज को 'नहीं' सिद्ध कर मैंने 'हाँ' तुमको पहचाना,
सत्य कठोर बनी मैं तब तो सपना तुम्हें रचाया !

मैंने सपना तुम्हें रचाया !

यदि मैं नीलाकाश न बनती, चाँद-सूर्य्य तुम होते,
क्या होते नास्तित्व न यदि यह प्राण न तुम्हें सँजोते !
स्वयं परिधि बन कर ही मैंने तुमको केन्द्र बनाया !

मैंने तुमको केन्द्र बनाया !

शून्यता तुम्हारी गूँज उठे मैं इसीलिए तो गाती हूँ !

जब पलक मूँद अन्तर-नयनों को खोल निहारा करते हो,
मैं स्वप्नभरे गीतों की छवि में तब मुसकाती आती हूँ,

मैं इसी लिए तो गाती हूँ !

तुम चौंक न उठते हो अपनी निस्तब्ध दिशा को देख कभी,
मैं इसीलिए तो गीत-खगों को कलरव हेतु उड़ाती हूँ,

मैं इसीलिए तो गाती हूँ !

ले मिलन-हास के फूलों को औ' विरह-आँसुओं के मोती,
अपने गीतों में गूंथ-गूँथ जयमाल तुम्हें पहिनाती हूँ,

मैं इसीलिए तो गाती हूँ !

जब जग के दाहों से अकुला तुम तप्त उसाँसें भरते हो,
गीतों की श्याम घटा बनकर मैं रिमझिम तब उतराती हूँ,

मैं इसीलिए तो गाती हूँ !

आज नये बादल फिर उमड़े लगा कि तुमने मुझे पुकारा !

मुक्त करों से अमृत-गगरियाँ
ढुलका कर तुम मुसकाओगे,
मेरे श्रान्त-क्लान्त तन-मन में
नई चेतना भर जाओगे,

नये नये मेघों के पट में लगा कि तुमने मुझे सँवारा !

घन-निनाद से गीत तुम्हारे
गूँजेंगे मेरे कानों में,
लौट लौट कर जैसे आते
तुम्हीं प्यार के आह्वानों में,

नये बादलों की उड़ान में लगा कि मेरी खोज पसारा !

भूल गई मैं मरु की जलती
दुपहर की चिर आकुल प्यासें,
चन्दन शीतल सुमन सुरभि सी
लहराई पुरवा की साँसें,

लगा कि पत्थर चट्टानों में मुझे बनाया निर्झर-धारा !

हुआ क्या कि इतने दिन तक जो
रहा तड़पता सागर खारा,
नदियाँ कृश हो गईं, धरा का
उजड़ गया था यौवन सारा,

अब तो लगा कि जल-थल सबकी तृप्ति हेतु ही मुझे निहारा !

धरा आकाश मिलते हैं !

घुमड़ते घिर रहे हैं घन गगन का प्यार ले आकुल,
बुझाने को अवनि-तृष्णा चले रसधार ले आकुल,
बने आकांक्षा दुर्दम झुके आते सजल जलधर,
दिगन्तों को गुँजाये दे रहे ये आगमन के स्वर,
धरा को बाँध लेने को समर्पण-क्षण मचलते हैं !

धरा आकाश मिलते हैं !

उमड़ती घन घटाओं के बिखेरे आज भुज बन्धन,
उतर आकाश बूँदों में धरा के ले रहा चुम्बन,
मची है धूम वाद्यों की निरत है नृत्य में चपला,
हुई बौछार मोती की शस्यमय हो गई अचला,
उठी हैं मोह की लहरें मधुर छवि–स्वप्न खिलते हैं !

धरा आकाश मिलते हैं !

निविड़ तम में छिपी आलोक-जीवन की तरंगें है,
हुई फिर मूर्त्त पावस में छहों ऋतु की उमंगे हैं,
हरित परिधान में पुलकित मदिर सपनों भरी धरती,
किये श्रृंगार फूलों का सुरों का भी हृदय हरती,
विहँसती कह रही ऐसे प्रणय के प्राण पलते हैं !

धरा आकाश मिलते हैं !

०
००

तुमने ही मुसकाया होगा !

शिशिर-निशा में, जग की मूँदी पलकों पर सपने सोते थे,
दिग्पथ पर तारों के दीपक, ज्योतिभरे जगमग होते थे,
तभी छलककर नभ से धरती पर बसन्त मधु आया होगा !

तुमने ही मुसकाया होगा !

सहसा डालों पर नव पल्लव फूट उठे कोकिल बौराई,
झूम उठीं फिर सभी दिशाएँ ध्वजा इन्द्रधनुषी फहराई,
प्रकृति-वधू ने तम के घूँघट पट को तभी उठाया होगा !

तुमने ही मुसकाया होगा !

नव वसन्त के अर्चन में कुंजों ने बिखरा दीं अंजलियाँ,
मधु प्रभात के अरुण कपोलों पर मँडराई मधुपावलियाँ,
चिर-स्मिति का मधु कोष अयाचित तुमने आज लुटाया होगा!

तुमने ही मुसकाया होगा !

इस मुसकान प्रतीक्षा में जो, थे अवशेष कुसुम जीवन में,
मैंने भी कर दिये विर्सजित आज तुम्हारे अभिनन्दन में,
रूप-गन्ध-रस के कण-कण को तुमने ही नहलाया होगा !

तुमने ही मुसकाया होगा !

इस वसन्त वेला में खिलते फूलों सी मुसकान तुम्हारी,
बनी रहे मेरे मरुथल में भी अमृत रस की संचारी,
मेरे मन के इन सपनों को तुमने सत्य बनाया होगा !

तुमने ही मुसकाया होगा !

तुम दूर गगन से सुन लोगे, मैं गीत धरा पर गाती हूँ !

ज्यों गाती रहती रात और
स्वर धरती पर घिर आते हैं,
ज्यों गाती रहती भूमि और
स्वर मेघों पर तिर आते हैं–

त्योंही तुम ज्योति निरख हँस दो, मैं आँसू-दीप जलाती हूँ !

ज्यों गाती रहती है सरिता,
स्वर सागर में मिल जाते हैं,
ज्यों गाती रहती पवन, साँस में
स्वर आ घुल मिल जाते हैं–

त्योंही सपना बन जाने को मैं सत्य जगत में आती हूँ !

°°°

तुम्हारा फूलों का उपहार,
बन गया गीतों का संसार !

भोर के रूपे की वेला, सृष्टि के कोने कोने में
लगा था रागों का मेला !
सुनहले नूपुर की झंकार हुई थी जग के प्राणों में
उसी दिन तो रस की बौछार
तोड़कर तुमने एक गुलाब
दिया था मुझको जब उपहार !

लगी थी दुनियाँ खिला गुलाब, रूप रस गन्धमयी धरती
गगन पर मोती की सी आब,
उठा था प्राणों में तब ज्वार; बन गया एक प्रतीक गुलाब,
फूल सा मन में फूला प्यार
कि सहसा चढ़ आई थी धूप,
लिया फूलों ने घूँघट मार !

पँखुरियों के कुम्हलाये गाल, हवा के तेज झकोरों से
रूप की बुझने लगी मशाल !
हवा में उड़ने लगा गुबार, आँख में पड़ी किरकिरी
और, फूल का टूट गया आधार !
तभी तो हम दोनों के बीच
किया था दूरी ने अधिकार !

तिराती अब तो उनको पवन, पत्थरों से जा टकराती
उठा देती है उनमें स्वन,
लहरता स्वर का पारावार, न रुकते शब्दों के निर्झर

बह रही गीतों की रसधार !
आज तो जन-जन के मन-बीच
बजे मेरे गीतों के तार !

तुम्हारा फूलों का उपहार !
बन गया गीतों का संसार !

०००

प्यार की छिन भर बाँह गहो !

स्वयं गति हो जाए गतिमान,
बसेगा प्राणों में आ प्राण,
युगों तक झेल सकोगे ताप
प्यार की छिन भर छाँह गहो !

प्यार की छिन भर बाँह गहो !

शून्य में भर जाए आवाज़,
उदासी को भी आए लाज,
युगों तक गूंजेंगे मधुगान
प्यार की छिन भर बात कहो !

प्यार की छिन भर बाँह गहो !

सरस हो जाए रूखी राह,
मधुर हो जाए मन की चाह,
युगों तक साथ रहेगा चाँद
प्यार का छिन भर दाह सहो !

प्यार की छिन भर बाँह गहो !

तुम्हारे प्यार के दो चार क्षण पा कर !

न जानी राह की दूरी,
थकन दुख दर्द सब भूले,
खिली, ज्यों फूल खिलता है—

तुम्हारी चाँदनी में डूब—उतरा कर !

अमर मैं बन गई क्षण में,
नखत सा बन गया जीवन,
उठी, ज्यों गीत उठता है—

तुम्हारी बाँसुरी से मुग्ध लहरा कर !

हुए सच प्रात के सपने,
भरे गति से अचेतन भी,
चली, ज्यों वायु चलती है—

तुम्हारी साँस से लय तान गति पा कर !

०
००

दो पल ऐसे हों जीवन के !

जिनमें भुला सकें हम जग के संघर्षों का कटु आवाहन,
जिनमें सुला सकें बाहर के कोलाहल का थका हुआ मन,
जिनमें हम सुन सकें मधुर स्वर भीतर के उठते स्पन्दन के !

दो पल ऐसे हों जीवन के !

देख सकें पल भर को ही हम वहाँ धरा की मौन गहनता,
देख सकें हम पल भर को ही वहाँ गगन की परिधिहीनता,
फूल बनें, उस पल भर में ही प्रस्तर-खण्ड देह के, मन के !

दो पल ऐसे हों जीवन के !

जहाँ पराजय को दुलरावें, विजय-कामना के स्वर मचलें,
पल भर को सपनों के जग में पथ, दिशि, मान-दण्ड सब बदलें,
ले आदान-प्रदान युगों के झाँकें रसमय लोचन मन के !

दो पल ऐसे हों जीवन के !

प्रकृति मुग्ध हो नव छवि निरखे, पल में बँधा रहे मन्वन्तर,
अमर अवधि को बड़ी साध से, करे क्षितिज भी बंदन रुककर,
बंध जहाँ हँस खेलें खुलकर, मुक्ति पड़े पग में बन्धन के !
दो पल ऐसे हों जीवन के !

तुम दाह घृणा का लेकर मन में बैठे हो
खिल, चटक चाँदनी रातें बीती जाती हैं !

चीनांशुक-पट से झाँक रही है प्रकृति-वधू
कर्पूरी मुखड़ा फूलों की मुसकान-भरा,
यह रूप ज्योति तुम देख नहीं क्यों पाते हो ?
आनन्द-निमंत्रण प्राणों का कण-कण बिखरा,

तुम चिन्ता के अंगार लिये क्यों बैठे हो
साधों की मीठी घातें बीती जाती हैं !

जीवन-रथ के सम्मुख है सीमा की रेखा.
क्षणभंगुर है तन की मिट्टी के बोझिल स्वर,
चुक जाता शुष्क उपेक्षा का भी तो लेखा
औ' 'मैं' का भेद-कुहासा भी तो है नश्वर,

तुम रोष-अनल की ज्वाल जलाये बैठे हो
वय की ऋतु की बरसातें बीती जाती हैं !

कुंठाएँ जग की अन्तहीन हैं अकथ व्यथा
संघर्षों का तूफ़ान भयंकर आता है,
पर क्षणिक हास से क्यों न लपेटो दिवस-रात
आत्मा का स्वर-प्लावन अवसाद डुबाता है,

तुम निरानन्द क्यों अन्तराल में दुर्गम हो
पुलकन की नीरव बातें बीती जाती हैं !

तुमने समझा धूलि जिसे, वह कंचन का संसार बन गया !

बुझा करों से दीप, शिखा को सुला दिया चिर ज्योति-सदन में,
एक स्पर्श देकर तो अपना पन भी रहने दिया न मन में,

तुमने समझा खेल जिसे, वह पूजा का आधार बन गया !

कमल नाल के तन्तु सरीखे झीने सूत्र बने अब बन्धन,
पुष्प दलों सा जो मन तोड़ा वही बन गया है अब पाहन,

तुमने समझा स्वप्न जिसे वह सत्यों का आकार बन गया !

एक पराजय ने जीता है जीवन की गति-विधियों का क्रम,
पग चिन्हों को सौंप दिया है पथचारी ने पथ का विभ्रम,

तुमने समझा जिसे किनारा आज वही मँझधार बन गया !

ऊँचे उठने की अभिलाषा को सागर का ज्वार कहा है,
शून्य लोक को ही तो नीले अम्बर का विस्तार कहा है,

व्योम-उच्चता से गिर कर घन धरती का शृंगार बन गया !

रहे पूर्ति कितनी दूरी पर जन्म जन्म की तृषा पुरानी,
युगों युगों तक कहते सुनते कभी न पूरी हुई कहानी,

तुमने समझा बूँद जिसे, वह अब तो पारावार बन गया !

मैं तुम्हारी मूकता से ही मुखर हूँ !

छाँह क्षण भर की बने क्यों एक कारा,
साध नन्हीं क्यों बने मंजिल किनारा,
राग रसना का बना कर पीर से ही
मैं तुम्हारी कुंठिता गति से प्रखर हूँ !

पतन औ' उत्थान श्वासों का अनुक्रम,
प्यार में गतिरोध का हो क्यों उपक्रम,
तृप्ति-घट भरती तृषा के नीर से ही
मैं तुम्हारी निठुरता का मधु प्रहर हूँ !

रुक न सकता पंथ, केवल मोड़ बदले,
स्वर-लहर पर जा रहे हैं प्राण मचले,
पार की अनुभूति मिलती तीर से ही
मैं तुम्हारी विमुखता से ही अमर हूँ !
मैं तुम्हारी मूकता से ही मुखर हूँ !

क्या करूँ लेकर तुम्हारी आज कोमल भावनायें !

पोंछना क्या आँसुओं को जब कि पदरज भी न मिलती,
साँस में बँध कौन रहता जब स्वयम् ही वे बिछलतीं,
नमित मस्तक ने गिनीं जब ठोकरें केवल कठिनतम,
लगन मन की लाँघ पाई पंथ दूरी का न दुर्गम,
लौट आईं व्यंग्य बनकर जब तिरस्कृत याचनायें !

रो चुके प्रति-श्वास पर जब, सजल करुणा गान मेरे,
खो चुके दुख सुख भरे, दिन रात के आख्यान मेरे,
पुलक, स्पन्दन में न भर पाईं नई मधु कल्पनायें,
बन न जब मुस्कान पाईं जन्म भर की साधनायें,
टिक न पाईं जब कृपा-तल पर विकल यह प्रार्थनायें !

स्वप्न के उस एक क्षण में प्यार से तुमने बुलाया,
एक ही भ्रू भंग पर जब युगों तक तुमने रुलाया,
और पूजा के मधुर उल्लास का आधार छीना,
किंतु कहती जा रही यह पंथिनी पाथेय-हीना,
प्यार के प्रतिकार की अब जन्म लेंगी योजनायें !

आज जब बदली दिशा तूफान के झोंके चले हैं,
टूटती हैं शृंखलायें डगमगाते युग ढले हैं,
आज जब संघर्ष की देती पुकारें प्रेरणायें,
दूर करना है हमें अपमान की अब यातनायें,
क्या करूँ लेकर तुम्हारी आज कोमल भावनायें !

अब तो केवल यही दुःख है तुमने अपनी भूल न मानी।

मैंने कहा सदा ही तुमसे, तुम आकाश-कुसुम मेरे हित,
मैं पदतल की धूलि सरीखी, केवल पदचिह्नों में सीमित,
आखिर जीती यही विषमता, हँसकर उसने कह ही डाला :
मिलन-कल्पना एक प्रवंचन, प्यार क्षार की एक निशानी।

कभी न मधु ऋतु के सिंगार को पतझर का नंगा तन भाया,
कभी न निशि के रोने पर ही, जी प्रभात का भर-भर आया,
केवल बनकर व्यंग्य रह गये, बड़े बोल दुर्बल, अभिमानी,
मैंने कहा—अमापी दूरी, तुमने कहा—साथ हूँ रानी!

कभी न पावन पग छूने का मैंने निज अधिकार जताया,
किन्तु सदा ही तुमने अपने को अखंड विश्वस्त बताया,
फलती और फूलती क्या यह! स्नेह-लता असमय मुरझाई,
साथ कहाँ? प्रेरक आह्वानों की भी मिटती गई कहानी!

मिथ्या साहस, व्यर्थ शक्ति औ' सारहीन गौरव दे डाला,
बिखराने को कहा—तुम्हीं हो मेरे जीवन की जयमाला!
दो डग साथ न चल पाये जो स्वप्न, उन्हें क्यों दिया बढ़ावा?
मैंने कहा—रुद्ध पथ मेरा, तुम बोले—मंज़िल पहचानी।

फिर भी मीठा चिर वियोग में, आश्वासन का था बहलावा,
प्राण तृप्त थे, छली प्यार यदि मुसका देता कभी भुलावा,
बिछुड़-बिछुड़कर मिलना होता तूफ़ानों में चलना होता,
पथ का इंगित मिलता रहता, रहती भले दिशा अनजानी।

किन्तु न टिक पाया दो दिन भी सपना सत्य, सत्य का सपना ,
किन्तु न बन पाया दो दिन भी सदा पराया मेरा अपना ,
रक्षणीय दायित्व न समझा, जीवन-उत्सव पल भर का ही ,
होगा क्या, मुझको तो चलना है अनुदिन बन कर पाषाणी।

अब तो केवल यही दुःख है तुमने अपनी भूल न मानी !

मैं सोच रही हूँ आने वाली बात !
घिरती आती है काली काली रात !
वह रात न जिसमें होंगे चाँद सितारे,
विषभरी सर्पिणी तम के कुण्डल मारे,
छाया पिशाचिनी जो मुझको छा लेगी,
मैं देख रही हूँ ऐसी काली रात !
अनबरसे बादल सी दुखवाली रात !
मैं सोच रही हूँ आनेवाली बात !
घिरती आती है काली काली रात !

मैं सोच रही हूँ आने वाली बात !
क्यों डोल रहे हैं जीवन-तरु के पात ?
उठता आता सम्मुख भारी तूफ़ान,
उंचास पवन लेते हैं भैरव - तान,
हो किन्तु अभी तुम मेरे औ' हो पास,
क्यों काँप रहे फिर जीवन-तरु के पात ?
क्यों गरज रही फिर अनबरसी बरसात ?
मैं सोच रही हूँ आने वाली बात !
क्यों डोल रहे हैं जीवन-तरु के पात ?

मुझे अभी सन्तोष नहीं है !

दान अपरिमित पाकर भी यह
पूरा मेरा कोष नहीं है !

एक फूल के सौरभ-मद में
तुमने क्यों मन प्राण तिराये ?
अब तो पूरी मधुवेला दो
जिसमें अन्तर डूब, सिराये।
एक बूँद से प्यास बढ़ाई
तुमने, मेरा दोष नहीं है !

संकेतों का आश्वासन पा
रोके रहूँ समय को कब तक ?
साथ तुम्हारा मुझे चाहिये
पथ तक नहीं, पूर्ण मंजिल तक।
वाणी में याचना भरी है
किन्तु मौन में घोष नहीं है !

अपनी प्यार-किरण-माला से
तुमने मुझमें किया उजाला,
अब तो सीमा हीन गगन दो
अनगिन तारों, रवि शशि, वाला ,
दानी ! दोगे, क्योंकि तुम्हारा
याचक पर कुछ रोष नहीं है !

मुझे अभी सन्तोष नहीं है !

जीवन के प्रति पल मत छीनो
केवल कुछ निमिष तुम्हारे हैं !

संघर्षों के आघात जहाँ
मुँह खोल न पाते हैं, जिन पर
कटुता के पग चढ़ हारे हैं।
केवल वे निमिष तुम्हारे हैं !

युग के विध्वंस-विधानों में
पथ चलने के दृढ़ सम्बल भी
जिनके ही रहे सहारे हैं।
केवल वे निमिष तुम्हारे हैं !

जो सुधि-चित्रों के प्राण बनें,
अवरोध शिलाओं को रोकें
जिनके बल की दीवारें हैं।
केवल वे निमिष तुम्हारे हैं !

जो रोएँ भी तो गान बने,
बाँहों में बाँधे सरि आकुल
वे दो उन्मुक्त किनारे हैं।
केवल वे निमिष तुम्हारे हैं !

बस, इनमें ही तुम व्याप्त रहो,
है एक बिन्दु में सिन्धु निहित,
स्वर में ही तो झनकारे हैं।
केवल कुछ निमिष तुम्हारे हैं !

जब सब लोगे, खो दूंगी मैं,
तुम जान न पाओगे निष्ठुर,
यह प्राण मौन व्रत धारे हैं।
केवल कुछ निमिष तुम्हारे हैं!

जीवन के प्रति पल मत छीनो,
केवल कुछ निमिष तुम्हारें हैं!

क्यों कहते हो सुख क्षण छोटे, दुख की दाहक घड़ियां भारी ?

हर्ष पुलक-अनुभूति सुखों में, दुख में कंठ द्रवित हो जाता,
जग में सदा फूल औ' शूलों का ही अमर रहा है नाता,
बिना तीर के नहीं रहा है कुछ अस्तित्व तरंगों का भी,
आहों से शृंगार हुआ है मन की मधुर उमंगों का भी,
मरु की ही हरियाली साधें लेकर नन्दन वन भी भूले,
व्योम-तिमिर की गोदी में ही तारक-शिशुओं की स्मिति झूले,
पंथ एक, पंथी अनेक हैं, आते जाते, गति है न्यारी ।

मुखर सदा ही हो उठती है विरह-क्षणों में कवि की वाणी,
सुधा पान करने वाले भी पूजा करते हैं पाषाणी,
सुन्दर मुक्तावलियां रचने का खारा सागर अधिकारी,
रुदन भार को हलका करता, हास हृदय करता आभारी,
कहीं बिना निर्माता के भी रचना हुई सृष्टि की सम्भव,
चिर सन्धानों के पृष्ठों पर है रहस्य का अंकन अभिनव,
दृग-भाषा का अवलम्बन पा, अधरों की वाणी भी हारी ।

स्वप्न नहीं है विलग सत्य से, प्राणों में दोनों की चाहें,
गति भरता विश्वास, तर्क से रुँध जातीं जीवन की राहें,
अवसर पाकर प्रीति-अधर पर लुट जाता विराग का चुम्बन,
चेतन की ध्वनि से प्रतिनादित होता है जड़ता का जीवन,
चिर अभाव में ही तो पोषित होती पूर्ति कामना की भी,
क्षणिक सिद्धि के हेतु यहां है महिमा अमर साधना की भी,
कभी बटोरी कुसुमांजलियाँ, अब ज्वाला-तीरों की बारी ।

क्यों लगते हैं सुख क्षण छोटे, दुख की दाहक घड़ियां भारी ?

दीपों की वेला फिर आई !
आज रात भर को ही बस, दीपों की वेला फिर आई !

दूर कहीं उस गंगा-तट पर ग्राम तुम्हारा ,
नीलम-पट पर अंकित मोती-धाम तुम्हारा ।
आज वहीं श्यामा की गोदी में खिलखिल कर ,
हँसती होंगी दुग्ध लहरियाँ छवि फेनिल भर ।
आज वहीं ऊँचे अम्बर पर टिमटिम तारे ।
जलते बुझते करते होंगे मुग्ध इशारे ।
एक जला लो दीपक तुम भी, दीपों की वेला फिर आई ।

और तभी तुम रजनीगन्धा के झुरमुट से ,
एक स्निग्ध दीपक ले किरणों के सम्पुट से ,
अर्पित कर दोगे जब गंगा की धारा को ,
बह आयेगा मुझ तक वह सब अँधियारा धो ।
मधुर समर्पण के क्षण पुलक-प्रपात बनेंगे ,
कृष्ण अमा के आँसू स्वर्ण-प्रभात बनेंगे ।
चंचल स्नेह उँडेलो छल छल, दीपों की वेला फिर आई !

सुरभि-गन्ध से आकुल लौ में, छवि उतरेगी ,
इसी भाँति हम कभी मिले थे, सुधि उभरेगी ।
युग-युग बीते स्नेह अशेष दीप में भरते ,
घनश्यामा को दीप-दान पूनम का करते ।
तब, जब आज उधर प्राची में उषा निकलती ,
जगमग होठों पर दिखती है लाली खिलती ।
मन्द प्रकाश न पड़ने पावे, दीपों की वेला फिर आई !

दीपों ! जलो, जलो।

मैं ढाल रही हूँ स्नेह,
उजियारा कर दो गेह,
मेरी रूप-भावनाओं में
दीपों ! ढलो, ढलो।

झंझा से मत हो भीत,
सम्बल हैं मेरे गीत,
तमसा की इस विषम राह पर
दीपों ! चलो, चलो।

है दूर नहीं वह देश,
रखना तुम ज्योति अशेष,
मेरी आशा के आंचल में
दीपों, पलो, पलो।

देखोगे युग का भोर,
पाओगे मंज़िल-छोर,
कोटि शिखा बन कर ज्वाला की
दीपों ! जलो, जलो।

जब तक सपने, तब तक यौवन !

तन की निष्प्राण भुजाओं में यदि मन का कोमल गात झुके,
तब सपनों का शृंगार लुटे, आशा का हास विलास रुके,
बुझ जाएँ अभिलाषा-दीपक, मन में घिर आवें सघन गगन !

तब असमय वृद्ध लगे तन-मन !

प्रतिविम्ब वयस है मन का ही, तन का परिवर्तन मन से है,
मानव-जीवन - व्यापार सफल होता मन, ही के धन से है
श्वासों का यौवन सार्थक है जब तक मन में जीवित स्पन्दन !

तब गति का नाम पड़े जीवन !

जीवन लय हो सन्धानों में, अवरोध अकिंचन बन जाएँ,
विश्वास-प्यार का बन्धन हो तो युग-युग क्षण बन रह जाएँ,
उड़ते निमिषों के पंखों पर सपनों की छवि का हो अंकन !

मन पंछी हो तो मुक्त गगन !

संचित उदारता से अपनी कण भर भी मुझे न देना !

तूफ़ान घिरे बादल बरसें साक्षात् प्रलय सम्मुख आए,
उत्तुंग गिरि-शिखर लहर बन, टूटें जल थल की सीमाएँ,
जब शिथिल गात हो, सतत करूँ मैं दीन, तुम्हारी मनुहारें,
तब छोड़ भँवर में, रख देना पतवार न तरणी खेना !
संचित उदारता से अपनी कण भर भी मुझे न तेना !

एकाकीपन घेरे कुण्डल मारे बैठा हो ज्यों विषधर,
विद्रूपों के शूलों से बिंधकर मेरा अन्तर हो जर्जर,
जब नयन प्रतीक्षा में अपलक आँसू-भिक्षा-पट फैलाएँ,
तब तुम मुख लेना मोड़, दरस क्षण भर भी मुझे न देना !
संचित उदारता से अपनी कण भर भी मुझे न देना !

चेतना पृथक हो तन मन से जीवन निरीह हो सो जाए,
निस्तब्ध शून्य की लहरों में मेरी तृष्णाएँ खो जाएँ,
जब शब्द बन्धनों से छूटें आह्वान मौन में परिणत हों,
तब डुबा अभावों बीच, प्यार तृण भर भी मुझे न देना !
संचित उदारता से अपनी कण भर भी मुझे न देना !

इसलिए कि दूरी में समीपता की चाहों को शक्ति मिले,
वंचित हो मिलन-तृप्ति से मन, तब भावों को अनुरक्ति मिले,
जब एक मृत्यु की लहर मेटने को छाए मेरा जीवन,
तब देना मुझे न प्राण अरे ! प्रण कर लो मुझे न देना !
संचित उदारता से अपनी कण भर भी मुझे न देना !

तुम न मिले, पर मेरी मंज़िल मेरे पास स्वयं ही आती !

आँखमिचौनी छायाछल की दूर पास का रहना आना,
सब कुछ शब्द रूप में मैंने कथा बनाकर कहना जाना,
पर अब तो अनकही कही सब मुझ में स्वयं समाई जाती !
तुम न मिले, पर मेरी मंज़िल मेरे पास स्वयं ही आती !

अब तो अनुभव होता केवल साँसों के सँग आना जाना,
रूप गन्ध रस बने तुम्हारा नयन स्वप्न में चिर लहराना,
ध्यानों में बेसुध मोहित सी तन्मयता अब सिर न उठाती !
तुम न मिले, पर मेरी मंज़िल मेरे पास स्वयं ही आती !

ध्येय, ध्यान, गति औ' पथ के सन्धान आज सब एक हो गये,
अब तो बात मुखरता लगती, सारे संशय तर्क धो गये,
बिन भाषा की मूक वन्दना अन्तरिक्ष में छाई जाती !
तुम न मिले, पर मेरी मंज़िल मेरे पास स्वयं ही आती !

बन अक्षय पाथेय आज तुम जीवन में चिर व्याप्त हुए हो
तुम्हीं विश्व की सकल प्राप्ति में अब तो मुझको प्राप्त हुए हो,
ध्वनियाँ सुनूँ कहीं कोई भी गूँज तुम्हारी छाई जाती !
तुम न मिले, पर मेरी मंज़िल मेरे पास स्वयं ही आती !

चिर आश्वासन की नैया पर करुणादूत बैठकर आता,
औ' असीम चैतन्य लोक में ले जा मेरा 'मैं' बिसराता,
अनदेखे अज्ञात केन्द्र की तब मैं परिधि बनी रह जाती !
तुम न मिले, पर मेरी मंजिल मेरे पास स्वयं ही आती !

०० ०

अब न देखूँगी तुम्हारी राह सागर के किनारे !

नमन अपना दे धरा को, मैं चली निज को भुलाती,
स्रोत-धारा-ज्वार में अब तरणि अपनी बही जाती,

सकल सीमा लाँघ कर वह पार अब मुझको निहारे !
अब न देखूँगी तुम्हारी राह सागर के किनारे !

शून्य नभ से क्षितिज तक है पन्थ दूरी का हमारा,
मिल रहा है चाँद सूरज से मुझे संकेत न्यारा,

दे रहे हैं दूर का सन्देश मुझको मौन तारे !
अब न देखूँगी तुम्हारी राह सागर के किनारे !

आज अन्तर की पराजय मान बैठी हार मुझसे,
और अक्षत आत्मा भी माँगती आकार मुझसे,

सृष्टि का प्रत्येक अणु परमाणु अब मुझको पुकारे !
अब न देखूँगी तुम्हारी राह सागर के किनारे !

सुन रही मैं पवन-साँसों में तुम्हारा आगमन-स्वर,
आज लगता खिंच गया ध्वनि-रेख से है गगन का स्तर,

दिगन्तों में गूँजते है गीत के आह्वान सारे !
अब न देखूँगी तुम्हारी राह सागर के किनारे !

तुम्हें दी विदाई !

रहा पन्थ सूना न कोई धरा का,
पगों की शिथिल-गति न फिर डगमगाई ।

न अनगिन अधूरी रहीं कामनायें,
न सीमित झुकी ही रहीं याचनायें,
मृदुल बाँह में मधुमयी भावना की,
न तब से विकल सान्त्वना छटपटायी ।

तुम्हें दी विदाई !

उठीं झनझना लो, जड़ित शृंखलायें,
खुलीं स्वप्नगढ़ की कठिन अर्गलायें,
न फिर फूल सी एक नन्हीं हँसी में,
रहस्यान्विता वंचना खिलखिलाई ।

तुम्हें दी विदाई !

न अब प्यार का व्यंग्य मुझको पुकारे,
न अब मोह के प्रश्न मुँह को निहारें,
न वरदान ने प्राण में शाप के फिर
मधुर गुदगुदी एक क्षण को मचाई ।

तुम्हें दी विदाई !

हुई अर्चना गति तभी से अविचलित ,
रही आरती की शिखा भी अकम्पित ,
अगम साधना पंथ के बीच करुणा ,
सजल लोचनों से न फिर छलछलाई ।

तुम्हें दी विदाई !

निशा नीड़ तज कर भले ही विवश से ,
कहीं भी रहो मुक्त पंछी दिवस के ,
क्षितिज की परिधि तक पहुँच कर कहीं तुम
न फिर लौट पड़ना अगर याद आई ।

तुम्हें दी विदाई !

पथ के भटके पन्थी ही तो अपनी मंज़िल पास बुलाते।

करते हैं जो खोज स्वप्न की स्वयं वही सपना बन जाते,
पूजारत भक्तों में ही तो उठकर आ भगवान समाते,
पीड़ा से जो उठते वे ही लक्ष्यों पर बाणों से गिरते,
तट पर तरणी डुबा चुके जो मँझधारों में वे ही तिरते,

जीवन वही जगाते है जो जीवन में ही मृत्यु सुलाते।
पथ के भटके पन्थी ही तो अपनी मंज़िल पास बुलाते।

शलभों से जो बुझते, उनकी शिरा-शिरा दीपक बन जाती,
टूटे जी को साँस हवा की, जीवन की धड़कनें सुनाती,
प्राणों पर जो पत्थर रखते वे ही हृदयवान कहलाते,
सूनेपन के बन्दी ही तो शब्दों का संसार रचाते,

भोर देखते हैं जो निशि भर प्रति क्षण अपना दीप घुलाते–
पथ के भटके पन्थी ही तो अपनी मंज़िल पास बुलाते।

तो क्या हुआ कि तुम हो मुझसे दूर और मधुवेला आई,
निज को तुममें मिला आज तो मैंने दूरी निकट बुलाई,
अब तो मुझको श्वास तुम्हारी अपने में लहराती लगती,
आँसू धुली दृष्टि में मेरी अब तो ज्योति तुम्हारी जगती,

अब तो हंसते हो विषाद में, गीतों में ही मुझे रुलाते।
पथ के भटके पन्थी ही तो अपनी मंज़िल पास बुलाते।

०० ०

जीवन के पंख थकित हों पर उड़ने की सुधि अवशेष रहे ।

दुख की निशि में घन उमड़ घुमड़ नयनों के सम्मुख घिर आवें,
मेघों के आँसू बाँध तोड़ अवनी - आँचल पर गिर जावें,

पावस के उल्कापात सजल, पर मन में शारद - वेष रहे ।

मन की शय्या निस्पन्द जहाँ भावों के क्रन्दन सोये हों,
सूनेपन का विस्तार सघन आवाहन - गुंजन खोये हों,

पर अचल साधना के दीपक की पावन ज्योति विशेष रहे ।

जिस पावन पग - प्रक्षालन का दे अर्घ्यदान दृगघट रीते,
जिस स्वर्णिम सपने के पल की स्मृति में जीवन के युग बीते,

इस धरती औ' आकाश बीच उस सुधि का शेष निमेष रहे ।

पथ की दूरी का ज्ञान न हो, हों मन्द पड़े गीतों के स्वर,
सम्बल प्रदीप की लौ कम्पित मूर्च्छित हो अन्तिम साँसें भर,

सूझे न हाथ को हाथ , प्राण में प्रिय का उज्ज्वल देश रहे ।

पंथ बदला है हमारा किंतु दोनों चल रहे हैं !

एक दीपक की शिखा सा तिमिर धोकर प्रात लाता,
एक शलभों सा स्वयं मिट साथ मंज़िल तक निभाता,
भिन्न साधन सिद्धि के हैं किंतु दोनों जल रहे हैं !
पंथ बदला है हमारा किंतु दोनों चल रहे हैं !

एक है चंचल लहर सा, नाव सा है एक डगमग,
एक है पथ रुद्ध सा, औ' एक केवल बढ़ रहे पग,
एक से ही दूसरे को किंतु दोनों छल रहे हैं !
पंथ बदला है हमारा किंतु दोनों चल रहे हैं !

एक मेघों से भरे हिय से धरा को तृप्त करता,
एक गिरि के वज्र-उर से छूट पथ निर्माण करता,
लक्ष्य जीवन का पृथक् हैं, किंतु दोनों गल रहे हैं !
पंथ बदला है हमारा किंतु दोनों चल रहे हैं !

आदि की है एक जीवित, स्वप्न-स्मृति की मधु कथा ही,
अंत की है एक कटुतापूर्ण अवहेलित व्यथा ही,
सत्य सपनों के सहारे किंतु दोनों पल रहे हैं !
पंथ बदला है हमारा किंतु दोनों चल रहे हैं !

पन्थ चली पहचान पन्थिनी !

साज रहीं रथ, किरनें हँसकर,
संग उड़े पंछी-दल सस्वर,

देश न वह अनजान पन्थिनी !

चलने के अभ्यासी पल छिन,
श्वासें भी सहवासी अनगिन,

खोये अथ-इति-भान पन्थिनी !

तन के स्पन्दन, मन के बन्धन,
युग-नयनों के गगन-सघन घन,

लिये चली गति-गान पन्थिनी !

दूर क्षितिज का पा निर्देशन,
पुण्य पर्व का ले आमन्त्रण,

अश्रु हुए मुस्कान पन्थिनी !

मैं पंथिनि, मुझको मत रोको !

सुख दुख के बंधन टूटेंगे,
सपनों के नन्दन छूटेंगे,
प्राणों के गीतों को गाती,
मैं अबाध बढ़ती ही जाती,

स्वयं बनाती पंथ चल रही, मै पंथिनि, मुझको मत रोको !

पार किये वन सरिता पर्वत,
भार किये हैं वहन अनवरत,
गूँज रहे आह्वान गगन के,
विकल हो रहे प्राण लगन के,

बना लिया वन्दिनी प्रगति ने, मैं पन्थिनि, मुझको मत रोको!

बड़े भोर ही मैं निकली थी,
कूजित तब न विहग-अवली थी,
धूमिल उस प्रभात में जागे,
युगल किसी के नयन अभागे,

चुका नहीं पाथेय अभी तक, मैं पन्थिनि, मुझको मत रोको !

भले सांझ का तम घिर आये,
दृग - जल में गत सुधि तिर आये,
कहीं प्रतीक्षा में चिर - उन्मुख,
राह लखे कोई कातर - मुख,

प्रतिपललक्ष्य समीप बुलाते, मैं पंथिनि, मुझको मत रोको !

मुझे नहीं विश्राम, आज है मेरी गति अविराम।

गहरी साँझ सिन्धु के तट से हो जाती है पार,
उठती रात कराह, अँधेरे से हो एकाकार,
टकराती हैं लहरें तट से ले अन्तिम उन्माद,
किन्तु न जाने कौन किया करता मुझसे सम्वाद,
किसके प्रेरक आह्वानों से पूर्ण हुये निशि याम।
मुझे नहीं विश्राम, आज है मेरी गति अविराम।

ऊषा का उल्लास, साँझ का अलस मदिर अभिसार,
पंछी के कंठों से निकली गीतों की मधु - धार,
किरणों की आभा में सुरभित हँसता मधु-ऋतु भोर,
और सरित की कूल विचुम्बित उठती मंजु हिलोर,
खींच न पाती है; मेरे क्षण आज हुये निष्काम।
मुझे नहीं विश्राम, आज है मेरी गति अविराम।

चित्र पूर्ण है, भूल गई हूँ रेखा का इतिहास,
स्वयं रागिनी बन कर खोया स्वर का आज विकास,
डूब चुका है ध्येय ध्यान में, पथ में मंज़िल-द्वार,
सपनों में अस्तित्व लुटा सो गई नींद भी हार,
मूर्त्त कल्पना में पाया है मैंने जग अभिराम।
मुझे नहीं विश्राम, आज है मेरी गति अविराम।

०
००

राह न रोको !

चली चलूँगी,
आह्वानों को नहीं छलूँगी, उमड़ा सिन्धु अथाह न रोको !
राह न रोको !

निशि अँधियारी,
सिर पर मेरे बोझा भारी, मिले न मंजिल, चाह न रोको !
राह न रोको !

जो कुछ पाया,
जा न सकेगा उसे भुलाया, सुधि की शेष उछाह न रोको !
राह न रोको !

तूफानों से,
खेल सकूँ मैं बलिदानों से, गति का प्रखर प्रवाह न रोको !
राह न रोको !

जिसमें होकर,
आगे बढ़ूँ निबलता खोकर, गीतों की मधु - छाँह न रोको !
राह न रोको !

अंक न भरने,
जय का शंखनाद अब करने, उठी हुई यह बांह न रोको !
राह न रोको !

कभी कभी तुम मिल जाते हो
पथ में एक ज्योति-रेखा-से।

मिल जाती हैं अमा-निशा से
जैसे शरद-चाँदनी रातें,

हो जातीं पतझर में मधु ऋतु
के सपनों की दो दो बातें,

ताज़ी हो जातीं हाथों में
पूजा की कलियाँ मुरझाईं,

रुकी खड़ी रह जातीं आँखों
में जो कितनी बाढ़ें आईं,

सार्थकता अस्तित्व-हीन की
बन अस्तित्व स्वयं ले आती,

मेरी लघुता की गरिमा की
मूर्त्ति मुझे दर्शन दे जाती,

दिशा-ज्ञान फिर नहीं भूलता
रुँधा पन्थ फिर-फिर खुल जाता,

मेरे सूखे मरु में अमृत
निर्झर बन कर ढुल-ढुल आता,

लय, स्वर, राग-हीन गीतों की
टूटी हुई गूँज जुड़ जाती,

आते आते थकन पगों की
जल्दी से पीछे मुड़ जाती,

ाप्य एक क्षण का ही, कल्पों
का कड़वा अप्राप्य धो जाता,

सारी जड़ता को चेतनता
का प्रवाह उठ कर धो जाता,

बने रहोगे जीवन-निशि में
दूर समीप चन्द्र लेखा से।

कभी कभी तुम मिल जाते हो
पथ में एक ज्योति-रेखा-से।

अपनी जीत न हारो, पंथी !

देकर विजय, अकिंचनता में मैंने पूर्ण सफलता पाई,
दानों का प्रतिदान मांगने कभी तुम्हारे द्वार न आई,
मुक्ति लुटा, बंधन की स्वामिनि को अब तुम न पुकारो, पंथी।

अपनी जीत न हारो, पंथी !

कुसुमों की अंजलि बिखेर कर काँटे कौन बटोर रहा है,
नन्दन वन से मोड़ पगों को किसने मरु का छोर गहा है,
किसके मेघों से भू-सिंचित, क्षण भर रुक न निहारो, पंथी।

अपनी जीत न हारो, पंथी !

मेरी ले अविराम प्रगति तुम विजय शिखर पर चढ़ते जाओ,
मावस तक मैं घटती जाऊँ पूनम तक तुम बढ़ते जाओ,
नयन-स्वप्न, अधरों की स्मिति ले अपना पंथ सँवारो, पंथी।

अपनी जीत न हारो, पंथी !

छलकेगी पूर्णता कभी तो अन्तस् की, तब स्वयं रुकोगे,
पाओगे मंजिल विराम की जब कुछ देने मुझे झुकोगे,
भरने दो प्राणों में तब तक प्यार न मुझ पर वारो, पंथी।

अपनी जीत न हारो, पंथी !

न खोजो पथ का अन्त नयन,
कथा की इति मत सुनना प्राण !

सदा आँसू का अर्घ्य यहाँ
चढ़ाया गया प्रस्तरों पर,

सुनाया गया शून्य को ही
स्वप्न के गीतों का मधु-स्वर,

खिली काँटों की शय्या पर
सुकोमल मृदुल गुलाब-कली,

जगाने चली पङ्क में ही
कमल को, उषा-किरण पहली,

रुके क्यों मरु में आज विफल
तुम्हारी तृष्णा का यह यान !

रही आसक्ति पतिंगों की
सदा दीपक पर मँडराई,

हँसी बिजली, मेघों के मुख—
घनी श्यामलता जब छाई,

बढ़ी ही चली गई सरिता
नहीं दोनों तट मिल पाये,

खिले नित प्रातः सूर्य्यमुखी
दृगों पर साँझ भले छाये,

राख की गोद न सो जायें
धधकती ज्वाला के आह्वान !

मचलते रहें गीत के स्वर
कण्ठ रह जाये तृषित भले,

न जीवन के ही भोर, विचल
श्वास के पाहुन लौट चलें,

ललक कर विरह-सिन्धु लहरें
मिलन-शशि निरख न थक जायें

लिये सुधि का पाथेय मधुर
डगर पर पग चलते जायें,

चेतना का क्षण जीवन में
बुझा मत देना लघु अभिमान !

न खोजो पथ का अन्त नयन,
कथा की इति मत सुनना प्राण !

लहर लहर में नाव तिरा दो, होगी कोई लहर किनारा !

टकराहट ही गति है माँझी !
जीवन अर्थ-बोध है गति का,
ध्यान रहे संघर्ष-सिन्धु में
लहरों के छन्दों की यति का,

लहर लहर में नाव तिरादो, होगी कोई लहर किनारा !

जीवन की विराट गोदी में
कितनी व्यापक होती छाया,
जिसमें शिर रख नयन मूँदकर
हँसती रोती सुख-दुख-काया,

हर पीड़ा की गाँठ खोल दो, होगी कोई पीर सहारा !

आँसू और स्वेद से ही तो
सींची जाती बेलि स्वर्ग की,
साँस साँस में प्यार लिख रहा
अमर कथाएँ मनुज वर्ग की,

लक्ष्य-लक्ष्य पर खींच प्रत्यंचा, होगा कोई लक्ष्य इशारा !

कभी न साहस हारा करता
शक्ति सृजन की, नाश न हरता,
थके हुए विश्वासों में बल
नई प्रेरणा का स्वर भरता,

हर विष-घट को हँसकर पी लो, होगा कोई घट मधु धारा !

वर्षा बिछुड़ गई, पर मन में छोड़ गयी अपनी हरियाली !

घोर तमिस्रा, पथ दुर्गम है, दिशा भ्रमित है, जग निर्मम है,
साहस छूट गया पर पीछे पाँव हटाना नहीं सुगम है,
आँखें भले शरद ने मींचीं पर न समेट सका उजियाली !
वर्षा बिछुड़ गयी, पर मन में छोड़ गयी अपनी हरियाली !

माना जीवन ध्येय नहीं है, मंजिल अपनी ज्ञेय नहीं है,
ध्यान शेष पर गान शेष हैं, प्राण श्रेय पर प्रेय नहीं है,
मुरझा चुका वसन्त किन्तु है ताजी मन में पाटल-लाली !
वर्षा बिछुड़ गयी, पर मन में छोड़ गयी अपनी हरियाली !

प्यार-पुकार बनी है क्रन्दन, आज पूर्णता बनी अकिंचन,
जिज्ञासा भी आज रह गई केवल युग युग का रहस्य बन,
मदिरा-घट वह फूट चुका है, आँखें नहीं खुलीं मतवाली !
वर्षा बिछुड़ गयी, पर मन में छोड़ गयी अपनी हरियाली !

कल की भूलें आज ज्ञान है, कल की देनें आज दान हैं,
कल के प्रश्न आज हैं उत्तर, कल के पथ का मिला भान है,
टूटी नींद, किन्तु सपनों की जाग रही जगमग दीवाली !
वर्षा बिछुड़ गयी, पर मन में छोड़ गयी अपनी हरियाली !

जग में भरा अनुराग हो !
औ' प्यार की सीमा न हो,
बहती रहे रसधार - युत
मधुस्रोत यह धीमा न हो,

औ' चाहवाले हृदय में,
कुछ धैर्य हो, कुछ त्याग हो !
जग में भरा अनुराग हो !

औ' प्यार सदा बना रहे,
फूला फला जीवन सदा
मधुमास का सपना रहे,
सुख का अटल साम्राज्य
सुषमा का अखण्ड सुहाग हो !
जग में भरा अनुराग हो !

औ' प्यार में अधिकार हो,
कुछ रीझ हो, कुछ खीझ हो,
कुछ जीत हो, कुछ हार हो,

जीवन भरा आनन्द हो,
प्रति साँस गाती राग हो !
जग में भरा अनुराग हो !

आज किसी ने स्नेह उंडेला
तुम भी दीप जला लो ।

शिखा प्रज्वलित हो ज्वाला की
बहे ज्योति की धारा ,
डूबे काली अमा आज की
मिले न एक किनारा ,
नव - प्रकाश के ज्योति-पुंज का
अरुण प्रभात बुला लो ।

भूली आज, कभी देखी थी
जग-मग नई दिवाली,
किन्तु आज इस विस्मृति-तम
पर छिटके स्मृति - उजियाली,
युग-युग के सोए दीपक में
भर कर प्राण जगा लो ।

मिट्टी - दीप कनक - घट होवें,
चन्दा घूरों फूले
नींद - भरे दृग, सपने देखें
सूर्य्य कंगूरों झूले,
आज प्रलय की झंझा में
मानवता - दीप बचा लो ।

० ००

चूमा जिसको प्रात-किरन ने,
झूमा मलय-पवन जिस मन में,
पूजा की थाली में भक्तों ने साजा जिसको चुन चुन कर,
फूल न वह मैं, हूँ कांटों से भरी बबूल !

सरि-प्रवाह जिसके पग धोवे,
तरि को बाँधे नाविक सोवे,
जिस पर देवालय स्थापित हों, यात्री बैठ थकान मिटाएँ,
कूल न वह मैं, हूँ सागर निस्सीम अकूल !

पीर मधुर प्राणों में भरती,
नीर मदिर बन दृग से झरती,
मर्म साधना का बतलाती रहती जो हँस हँस जीवन भर,
भूल न वह मैं, हूँ संघर्ष सदा प्रतिकूल !

शरण, पंथ बन जो देती है,
चरण चिन्ह का बल देती है,
गति का माप लिया करती जो, कण कण का इतिहास छिपाये,
धूल न वह मैं, हूँ दृढ़ धरा-हृदय में मूल !

ओ मानव के मित प्यार ! तुम शान्त शरदऋतु से बन जाओ।
संघर्षों के श्यामल घन-पट खोल, चन्द्रमुख-से तुम झाँको,
धरती के जीवन की सुषमा, रूप-रंग किरनों से आँको,
निर्मल धीर गँभीर नदी के, मंजु लहर-नर्त्तन बन जाओ।

ओ मानव के थकित प्यार ! तुम नवल शरद ऋतु से बन जाओ।
हरे धान-खेतों के सागर पर तुम मन्द पवन बन डोलो,
फुल्ल कमल-कुसुमों-से, अन्तर-भावों के तुम लोचन खोलो,
तरु-शाखाओं के वन-फूलों से तुम छवि–दीपक बन जाओ।

ओ मानव के सुप्त प्यार! तुम विमल शरद ऋतु से बन जाओ।
कासों के तुम नवल लास बन, कुमुदिनि के हिमकर बन चमको,
नवयौवन की मधु मादकता लेकर हरसिंगार से गमको,
नभ-नीलम-सागर में, तुम बन श्वेत बकों से नाव तिराओ।

ओ मानव के निबल प्यार! तुम सुभग शरद ऋतु से बन जाओ।
दिवस-किरण बन हेम लुटाओ बरसो राका-अमृत बनकर,
तृषित जगत की आत्मा में तुम बस जाओ चिर जीवन बनकर,
सत्यों के आँसू में मोती, स्वप्नों की स्मिति फूल बनाओ।

ओ मानव के भ्रमित प्यार ! तुम मुग्ध शरद ऋतु से बन जाओ।

आज कवि के गान में जग की व्यथाएँ बोलती हैं ।

इन व्यथाओं में निहित नव जन्म की हैं वेदनाएँ ,
इन व्यथाओं में निहित निर्माण की हैं चेतनाएँ ,

वह नया जीवन कि जो इतिहास में नव पृष्ठ जोड़े ,
वह नया जीवन कि जो नूतन दिशा में पन्थ मोड़े ,

जागने पर जागरण का प्रात देखे जो प्रभामय ,
वह मधुर लोरी भरी सी मृदु थपकियाँ डोलती हैं ।

आज कवि के गान में जग की व्यथाएँ बोलती हैं ।

गान के स्वर सुन, धरा औ' गिरि-शिखर मिल भेंट लें फिर ,
गान के स्वर सुन, क्षितिज में लालिमा मुसका उठे फिर ,

शून्य का उर गूँज से भर जाय सुन इस गान के स्वर ,
सृष्टि के प्रति श्वास में बस जायँ कवि के प्राण के स्वर ,

स्वप्न अन्तर में उलझते आ रहे हैं जो युगों से ,
आज गाँठों को उँगलियाँ, सत्य की, फिर खोलती हैं ।

आज कवि के गान में जग की व्यथाएँ बोलती हैं ।

देख लो, मैं कर रही हूँ मुक्ति का आह्वान,
गा उठो मंगल स्वरों में आज मेरे मीत !

तुम बहुत हो सुन चुके धूमिल गगन के गान,
आज तुमको मैं सुनाऊँगी, धरा के गीत।
गा उठो मंगल स्वरों में आज मेरे मीत !

कल्पना मेरी चहकती उड़ी तज आवास,
और सहसा मुड़ गई जाकर क्षितिज के पास,
उस हवा में इस तरह की घुट रही थी गन्ध,
लौट आई कल्पना-विहगी, बटोरे बन्ध,

अब करूँगी सत्य के सत रूप से पहिचान,
टूटती है स्वप्न के बुझते नखत सी प्रीत।
गा उठो मंगल स्वरों में आज मेरे मीत !

अब न मेरे पंख चाहेंगे क्षितिज का छोर,
अब न देखूँगी उषा की इन्द्रधनु की कोर,
क्योंकि उड़ने के लिए जग में बहुत विस्तार,
आँख के नीचे धरा का मुक्त पारावार,

आज करने को चली हूँ भूमि पर अभियान,
हैं खड़े संघर्ष, जोहे बाट मेरी जीत।
गा उठो मंगल स्वरों में आज मेरे मीत !

०
००